उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—५ जुलाई—१९८६ अंक—७

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप विखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	२५० रु०
षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

जिन-जिन के निकट कोई शिक्षा प्राप्त होती हो उन सभी को गुरु न कहकर एक निर्दिष्ट व्यक्ति को ही गुरु कहने की क्या आवश्यकता है? किसी अनजान जगह जाना हो तो जो रास्ता जानता है ऐसे किसी एक व्यक्ति के निर्देशानुसार ही जाना चाहिए। अनेक लोगों से रास्ता पूछते रहने पर गड़-बड़ हो जाती है। वैसे ही, ईश्वर के निकट जाना हो तो एक अनुभवी गुरु के निर्देशानुसार चलना चाहिए। इसीलिए एक गुरु का प्रयोजन है।

(२)

किसी घर के छप्पर में एक छोटी-सी दरार है, उसमें से घर में प्रकाश मिलता है। जिसके छप्पर में बहुत-सी दरारें हैं उसे और भी अधिक प्रकाश मिलता है। फिर खिड़कियाँ और दरवाजे खोल देने पर और भी प्रकाश मिलता है। परन्तु जो मैदान में खड़ा है उसे सब ओर से प्रकाश ही प्रकाश मिलता है। इसी प्रकार, ईश्वर भी मनुष्य की मानसिक अवस्था के अनुसार उसके सम्मुख अपना स्वरूप प्रकाशित करता है।

(३)

जब तक कम्पास का काँटा उत्तर की ओर रहे तब तक जहाज के दिशा भूलकर संकट में पड़ने का भय नहीं। यदि मन स्थिर होकर सदा ईश्वर की ही ओर लगा रहे, तो जीवनरूपी जहाज भी सभी संकटों को पार कर आगे बढ़ता जाएगा।

(४)

जिन्हें कई लोग जानते, मानते और आदर करते हैं उनके भीतर भगवान् की विभूति अधिक परिमाण में विद्यमान है।

गुरु वन्दना

—श्री द्वारका प्रसाद शर्मा
वृन्दावन।

गुरुदेव ! मेरे मन को प्रभु-प्रेम रस पिला दो।
भव-भोग करके सेवन मृत्प्राय हो चुका है।
आसक्ति के नशे में चैतन्य खो चुका है॥
वैराग्य की दवा दे इसको पुनः जिला दो। गुरुदेव·····

संसार-शोक-भय से यह हो गया है जर्जर।
निज रूप भी गँवाया जग-द्वन्द्व में उलझ कर॥
विश्वास-सूत्र से तुम मन-वस्त्र मम सिला दो। गुरुदेव·····

मद-मोह-लोभ रिपु ने सर्वस्व इसका लूटा।
तृष्णा की धार में बह प्रभु नाम-संग छूटा॥
सन्तोष-त्याग धन का सम्बल इसे दिला दो। गुरुदेव·····

कामाग्नि, क्रोध-ज्वाला इसको तपा रही हैं।
विषयों की लालसाएँ इसको सुखा रही हैं।
सत्संग-मेघ से अब प्रभु-भक्ति-वृष्टि ला दो! गुरुदेव·····

दुष्कर्म-फल को खाकर यह हो रहा है चंचल।
रहकर अशान्त निशि-दिन करता है नष्ट निज बल॥
प्रभुवाणि-फल प्रसादी इसको तनिक खिला दो। गुरुदेव ···

अज्ञान के तिमिर में भूला है ईश-पथ को।
भ्रम-नद में यह उतरकर अपना रहा कुपथ को।
लाकर इसे सुपथ पर मम इष्ट से मिला दो। गुरुदेव·····

एक प्रेरक पत्र

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

१४ ग्रेकोट गार्डन्स, वेस्ट मिन्स्टर, लन्दन,
१ नवम्बर, १८९६

प्रिय मेरी—

"सोना और चाँदी मेरे पास किंचित् मात्र नहीं है, किन्तु जो मेरे पास है वह मैं तुम्हें मुक्तहस्त देने को तैयार हूँ।"—और वह यह ज्ञान है कि स्वर्ण का स्वर्णत्व, रजत का रजतत्व, पुरुष का पुरुषत्व, स्त्री का स्त्रीत्व और सब वस्तुओं का सत्यस्वरूप परमात्मा ही है, और इस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए बाह्य जगत् में हम अनादि काल से प्रयत्न करते आ रहे हैं, और इस प्रयत्न में हम अपनी कल्पना की वस्तुओं को भी—जैसे कि पुरुष, स्त्री, बालक, शरीर, मन, पृथ्वी, सूर्य चन्द्र, तारे, प्रेम, द्वेष, धन सम्पत्ति इत्यादि; और भूत, राक्षस, देवदूत, देवता, ईश्वर इत्यादि—त्याग रहे हैं।

सच तो यह है कि प्रभु हममें ही हैं, हम स्वयं प्रभु हैं—जो नित्य साक्षी, सच्चे 'अहम्' तथा अतीन्द्रिय हैं। उन्हें द्वैत भाव से देखने की प्रवृत्ति तो केवल समय और बुद्धि को नष्ट करना ही है। जब जीव को यह ज्ञान हो जाता है तब वह विषयों का आश्रय लेना छोड़ देता है और अन्तरात्मा की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होता है। यही क्रमविकास है अर्थात् अन्तर्दृष्टि का अधिकाधिक विकास एवं बहिर्दृष्टि का अधिकाधिक लोप। धर्म-शास्त्र में इसे 'त्याग' कहते हैं। समाज का निर्माण, विवाह की व्यवस्था, सन्तान प्रेम, हमारे शुभ कर्म, शुद्धाचरण और नीतिशास्त्र ये सब त्याग के भिन्न भिन्न रूप हैं। सब समाजों में लोगों का जीवन संकल्प, वासना तथा भूख-प्यास के दमन में ही निहित है।

इस स्वार्थ अथवा मिथ्या अहं के दमन, तथा एकमेवाद्वितीयम् नित्य साक्षीस्वरूप आत्मा को द्वैत भाव से देखने के प्रयत्न के निग्रह के भिन्न भिन्न रूप तथा उनकी अवस्थाएँ ही संसार के भिन्न भिन्न समाज एवं सामाजिक नियम हैं। आत्मसमर्पण तथा स्वार्थनिग्रह का सब से सरल उपाय है प्रेम तथा इसका विपरीत उपाय है द्वेष।

अनेक कथाएँ, स्वर्ग-नरक, तथा आकाश के परे राज्य करनेवाले शासकों के बारे में कुसंस्कार—आदि के द्वारा मनुष्य को भुलावे में डालकर उसे आत्मसमर्पण के लक्ष्य की ओर अग्रसर किया जाता है। इन सब कुसंस्कारों के बिना, तत्त्वज्ञानी केवल वासना के त्याग द्वारा ही जान-बूझकर इस लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते हैं।

बाह्य स्वर्ग या राम-राज्य का अस्तित्व केवल कल्पना में ही है, परन्तु मनुष्य के भीतर इनका अस्तित्व पहले से ही है। कस्तूरी की सुगन्ध की व्यर्थ खोज करने के बाद, कस्तूरी-मृग अन्त में उसे अपने में ही पाता है।

बाह्य समाज सर्वदा शुभ और अशुभ का सम्मिश्रण होगा—बाह्य जीवन की अनुगामी उसकी छाया अर्थात् मृत्यु, सर्वदा उसके साथ रहेगी, और जीवन जितना लम्बा होगा उसकी छाया भी उतनी ही लम्बी होगी। केवल जब सूर्य हमारे सिर पर होता है तब कोई छाया नहीं होती। जब ईश्वर, भलाई और अन्य सब कुछ हममें ही हैं तो अशुभ कहाँ? परन्तु बाह्य जीवन में प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और हर शुभ के साथ अशुभ उसकी छाया की तरह जाता है। उन्नति में अवोगति का समान अंश रहता है, कारण यह है कि अशुभ और शुभ एक ही पदार्थ हैं, दो नहीं; भेद अभि-व्यक्ति में है—मात्रा में, न कि जाति में।

हमारा जीवन स्वयं दूसरों की मृत्यु पर अवलम्बित है, चाहे वनस्पतियाँ हों, चाहे पशु, चाहे कीटाणु। एक बड़ी भारी भूल जो हम लोग बहुधा करते हैं वह यह कि शुभ को हम सदा बढ़नेवाली वस्तु समझते हैं और अशुभ को एक निश्चित राशि मानते हैं। इससे हम तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं कि यदि अशुभ दिन-दिन घट रहा है तो एक समय ऐसा आयेगा जब शुभ ही अकेला शेष रह जायेगा। मिथ्या पूर्वपक्ष की स्वीकृति से हमारा तर्क अशुद्ध हो जाता है। यदि शुभ की मात्रा बढ़ रही है तो अशुभ की भी। बहुत मेरी जाति की जनता की अपेक्षा मेरी इच्छाएँ बढ़ गयी हैं। मेरा सुख उनसे अत्यधिक है—परन्तु मेरा

दुःख भी उनसे लाखों गुना तीव्र है। जिस स्वभाव के कारण तुम्हें शुभ के स्पर्श-मात्र का आभास होता है उसी से तुम्हें अशुभ के स्पर्श-मात्र का भी आभास होगा। जिन स्नायुओं द्वारा सुख का अनुभव होता है उन्हीं के द्वारा दुःख का भी; और एक ही मन दोनों का अनुभव करता है। संसार की उन्नति का अर्थ है सुख की अधिक मात्रा और दुःख की भी। जीवन और मृत्यु, शुभ और अशुभ, ज्ञान और अज्ञान का सम्मिश्रण—यही 'माया' कहलाती हैं—यही है विश्व का नियम। तुम अनन्तकाल तक इस जाल में सुख और दुःख की खोज करोगे—तुम्हें बहुत सुख और बहुत दुःख दोनों मिलेंगे। यह कहना कि संसार में केवल शुभ ही हो, अशुभ नहीं, बालकों का प्रलाप मात्र है।

दो मार्ग हमें खुले मिलते हैं—एक तो सब प्रकार की आशा को छोड़कर संसार जैसा है वैसा स्वीकार कर दुःख की वेदना को सहन करें, इस आशा में कि कभी कभी सुख का अल्पांश मिल जाया करेगा। दूसरा मार्ग यह कि यह जानते हुए कि सुख दुःख का एक दूसरा रूप है, सुख की खोज को हम त्याग दें तथा सत्य की खोज करें—और जो सत्य की खोज करने का साहस रखते हैं वे उसे नित्य वर्तमान पाते हैं, अपने में ही पाते हैं। फिर हमें यह भी पता लग जाता है कि वही सत्य किस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन के भ्रम और ज्ञान दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है—हमें यह भी पता लग जाता है कि वही सत्य 'आनन्द' है, जो शुभ और अशुभ दोनों रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। साथ ही हमें यह भी पता लग जाता है कि वही 'सत्' जीवन और मृत्यु दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है।

इस प्रकार हम अनुभव करते हैं कि ये सब बातें उस एक अस्तित्व के—जो एकमेवाद्वितीय सत्-चित-आनन्दस्वरूप है, मेरा अन्तरामा है, जिसमें सब चीजों का अस्तित्व है—भिन्न भिन्न रूप मात्र हैं। तब और तभी, बिना बुराई के भलाई करना सम्भव होता है, क्योंकि ऐसी आत्मा ने उस पदार्थ को, जिससे कि शुभ और अशुभ दोनों का निर्माण होता है, जान लिया है और अपने वश में कर लिया है, और वह अपनी इच्छानुसार एक या दूसरे का विकास कर सकता है। हम यह भी जानते हैं कि वह केवल शुभ का ही विकास करता है। यही जीवन्मुक्ति है जो वेदान्त का और सब तत्त्वज्ञानों का अन्तिम लक्ष्य है।

मानवी समाज पर चारों वर्ण—पुरोहित, सैनिक, व्यापारी और मजदूर—बारी-बारी से राज्य करते हैं। हर अवस्था का अपना गौरव और अपना दोष होता है।.....

परन्तु पहले तीनों का राज्य हो चुका है। अब शूद्र राज्य का काल आ गया है—वे अवश्य राज्य करेंगे, और उन्हें कोई रोक नहीं सकता। सोने और चाँदी के प्रमाप (Standard) रखने में क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं, मैं यह सब नहीं जानता (और मैंने देखा है कि कोई भी इस विषय में अधिक नहीं जानता), परन्तु मैं यह देखता हूँ कि स्वर्ण प्रमाप ने धनवानों को अधिक धनी तथा दरिद्रों को और भी अधिक दरिद्र बना दिया है। ब्रायन ने यह ठीक ही कहा था कि "सोने के भी क्रास पर हम लटकाये जाना पसन्द न करेंगे।" यदि चाँदी का प्रमाप हो जायेगा तो इस अ-समान युद्ध में गरीबों के पक्ष में कुछ बल आ जायेगा। मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि मैं इसे पूर्ण रूप से निर्दोष व्यवस्था समझता हूँ, परन्तु इसलिए कि रोटी न मिलने से आधी रोटी ही अच्छी है।

और सब मतवाद काम में लाये जा चुके हैं और दोषयुक्त सिद्ध हुए हैं। इसकी भी अब परीक्षा होने दो—यदि और किसी कारण से नहीं तो उसकी नवीनता के लिए ही। सर्वदा उन्हीं व्यक्तियों को सुख और दुःख मिलने की अपेक्षा सुख-दुःख का बँटवारा करना अच्छा है। शुभ और अशुभ की समष्टि संसार में समान ही रहती है। नये मतवादों से वह भार कन्ध से कन्धा बदल लेगा, और कुछ नहीं।

इस दुःखी संसार में सबको सुख-भोग का अवसर दो जिससे इस तथाकथित सुख के अनुभव के पश्चात् वे संसार, शासन विधि और अन्य झंझटों को छोड़कर परमात्मा के पास आ सकें।

तुम सब को मेरा प्यार।

तुम्हारा एकनिष्ठ भाई,
विवेकानन्द

सम्पादकीय सम्बोधन

भोग से योग की ओर

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

टेलिविजन सादा लिया जाय या रंगीन—इस समस्या पर पति-पत्नी में पिछले कई दिनों से परामर्श हो रहा था। धीरे-धीरे इस परामर्श ने विवाद का रूप धारण कर लिया और विवाद ने भयंकर झगड़े का। पत्नी रंगीन टी० वी० के पक्ष में थी और पति सादे के। पति के सामने पैसे का प्रश्न था और पत्नी के सामने मुहल्ले में अपनी प्रतिष्ठा कुछ और ऊँची करने का। फ्रीज पहले से था, लेकिन उसकी साइज छोटी थी। मकान में एयर कूलर नहीं था और गर्मी बेहद थी। पत्नी खींझ रही थी। अपने भाग्य को कोस रही थी। विज्ञान ने इतनी सुविधाएँ दी हैं, किन्तु उसके घर में इन समस्त सुविधाओं का उपभोग नहीं हो पा रहा था। एक टी० वी० खरीदने की बात आयी तो उसमें भी किच-किच हो रही थी। पूरा घर अशान्त हो उठा था। बच्चे आतंकित और भयभीत थे। नौकर-चाकर घर के कोने में दुबके पड़े थे। घटा घिरी हुई थी। पता नहीं कब बरस जाय! ऐसी स्थिति थी।

मैं उसी दिन उनके घर पहुँचा था और वहाँ के विषाक्त वातावरण से स्तंभित हो गया था। भोग की लालसा से मनुष्य कितना विकृत हो जाता है—यह उस मकान के स्वामी-स्वामिनी को देखने से ही पता चल रहा था।

तो क्या शान्ति के लिए विज्ञान के अवदान को नकारना होगा, अस्वीकार करना होगा? आधुनिक उपलब्धियों से मुकरना होगा? ऐसी स्थिति में क्या हम आधुनिक रह सकेंगे? आधुनिकता का विरोध कर, और प्राचीनता को आँख मूँदे हुए अंगीकार कर क्या हम वर्तमान में स्वयं को हास्यास्पद नहीं बना लेंगे? फ्रीज, एयर कूलर, रेडियो, टेप रेकार्डर, टी० वी०, कार, फो जेनरेटर आदि के अभाव में क्या हम आधुनिकता जीवन जी सकते हैं? विज्ञान ने जो साधन हमें स ही उपलब्ध करा दिये हैं, उनका भोग किये बिना क जीवन सही मायनों में जीवन रह सकेगा? भोग विरोध नहीं हो सकता। विज्ञान का विरोध नहीं सकता। वैज्ञानिक दृष्टिभंगी को नकारा नहीं जा सकत आधुनिकता से हम विमुख नहीं हो सकते।

ये बातें कुछ हद तक सही होने पर भी हमें सोचने को विवश करती हैं। आधुनिकता के नाम विज्ञान की उपलब्धियों का निर्बन्ध भोग करने के आज हम जिस तरह बेचैन हो रहे हैं वह छि आधुनिकता है, सतही आधुनिकता है। आधुनिकता सही आधुनिकता – और छिछली आधुनिकता में एक अन्तर है। छिछली आधुनिकता के मूल में भोग उ निर्बन्ध और मुक्त भोग की भावना काम करती पश्चिमी जगत् के उन्मुक्त समाज (Permissive Soci से आयी हुई इस निरंकुश भोग-लालसा ने हमें भी से खोखला कर दिया है। हम बाहरी चाकचिक्य पड़कर, देह-भोग और भौतिक पदार्थों के अपरिसीम को ही जीवन का सत्य समझ बैठे हैं, आधुनिकता पहचान समझ बैठे हैं। किन्तु वास्तविक आधुनिक कुछ और है। आधुनिक (Modern) होने का अर्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्त होना तथा मानवीय संवे नाओं से परिपुष्ट होना। कोई व्यक्ति अपने मकान समस्त वैज्ञानिक उपलब्धियों को रखकर पुरातन दृ भंगीवाला, गतानुगतिक और परम्परावादी हो सक है। वह अंधविश्वासी और रूढ़िग्रस्त हो सकता है

जबकि कोई दूसरा व्यक्ति आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त सुविधाओं से वंचित होकर भी सत्य का अन्वेषक, विवेक-सम्पन्न और विश्लेषण-बुद्धि से संयुक्त हो सकता है। निश्चय ही, ऐसा आदमी ही आधुनिक होगा। वह अपनी प्रवृत्ति से आधुनिक यानी वैज्ञानिक होगा। उसकी मनोवृत्ति किसी वस्तु को स्वीकार या अस्वीकार, ग्रहण या तिरस्कार करने के पूर्व उसके सत्यासत्य का परीक्षण कर लेने की होगी। इसे वैज्ञानिक प्रवृत्ति (Scientific attitude) या वैज्ञानिक प्रकृति (Scientific temperament) कहते हैं। इस वैज्ञानिक प्रवृत्ति के द्वारा उपलब्ध सत्य का जो व्यक्ति मानव समाज के मंगल औ विकास के लिए उपयोग करता है, सही अर्थ में वही वैज्ञानिक-दृष्टिकोण सम्पन्न आधुनिक व्यक्ति है।

विज्ञान का अर्थ है विवेचनात्मक बुद्धि से सत्य के शोध का निश्छल—निष्कपट प्रयास तथा इस साधना से उपलब्ध ज्ञान और शक्ति का मानव की पीड़ा को दूर करने के लिए प्रयत्न करना। इसे ज्योतिर्मय विज्ञान (Science as lucifera) कहते हैं। और विज्ञान से उपलब्ध फलों का जब मात्र भोग के लिए उपयोग होता है तब उसे विज्ञान का फल या फलमय विज्ञान (Science as fructifera) कहते हैं। नये-नये उद्योग और तकनीक विज्ञान के फल हैं। ज्योतिर्मय विज्ञान का साधक वास्तविक अर्थ में आधुनिक है, और विज्ञान के फलों के उपभोग को आतुर—विकल मनुष्य आधुनिक नहीं, आधुनिकतावादी है—भोगवादी है। लेकिन आज का समाज विज्ञान के फलों के उपभोग पर ज्यादा रीझ रहा है और उसके मूल स्वरूप से कतरा रहा है। उधर से आंखें फेर रहा है।

आधुनिक युग इसी आधुनिक विज्ञान की देन है और इस आधुनिक विज्ञान ने आधुनिक मानवतावाद को भी कहीं बड़े गहरे से प्रभावित कर दिया है।

हमें विज्ञान का फल भोगनेवाली प्रवृत्ति से ऊपर उठना होगा। विज्ञान का फल तो चिड़ियाघर के पशु-पक्षी भी भोग सकते हैं किन्तु, वे वैज्ञानिक दृष्टिभंगी अपनाकर सत्य का शोध नहीं कर सकते। नये-नये तकनीक और उद्योग ही विज्ञान नहीं है। कार, रेडियो, टी. वी और फ्रीज आदि विलासिता और भोग के उपकरण ही विज्ञान नहीं है। ये तो विज्ञान के छोटे, तुच्छ और नगण्य फल हैं। विज्ञान का महत्तम अंश है—सत्य की खोज और स्पष्ट चिन्तन।

भोग की इच्छा जीवन की एक स्वाभाविक मांग है। किन्तु जीवन की सुदीर्घ यात्रा में भोग एक पड़ाव है, मंजिल नहीं। मंजिल है योग अर्थात् जीवन की परिपूर्णता। जहां जीवन की समस्त भौतिक वासनाओं की दीवारें ढह जाती हैं, वहां से योग की इमारत खड़ी होती है।

भोग के सत्य को हमारे ऋषियों ने भी स्वीकारा था। लेकिन वे इसकी सीमा जानते थे। वे इसका अतिक्रमण करने का रहस्य जानते थे। वैदिक ऋषियों ने कहा था—तेन त्यक्तेन भुंजीथा—अर्थात् त्यागपूर्वक भोग करो। अर्थात् भोग में तुम्हारी आसक्ति न हो। भोग की आसक्ति हमें डुबा देती है। भोग में अनासक्ति हमारे अन्तः स्वरूप के कमल को प्रस्फुटित कर देती है। हम जल में कमल की भांति अनासक्त रहकर खिलते हैं और अपनी आत्मा की सुगंध बिखेर कर विश्व-मानव के मन को परितृप्त कर देते हैं।

त्याग हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। एक शिशु खिलौने के लिए मचलता है। उसके माँ-बाप उसे ढेर सारे खिलौने ला देते हैं। किन्तु शिशु सर्वदा शिशु नहीं बना रह सकता। शिशुता कितनी भी प्यारी क्यों न हो, शिशु को उसका परित्याग करना ही होगा। उसे किशोर होना होगा। अगर वह किशोर नहीं होता तो उसके अंग-प्रत्यंग सूखने लगते हैं। वह रुग्ण हो जाता है। कैशोर कितनी भावुक अवस्था है! किन्तु कोई कब तक किशोर बना रह सकता है? उसे यौवन में प्रवेश करना होगा। यौवन कितना भी मादक क्यों न हो, कितना भी सम्मोहक क्यों न हो, प्रौढ़ता में उसका विलय होकर रहेगा। कोई भी युवक अपने यौवन को

भूतों के महान् ईश्वर रूप मेरे परमभाव को न जानने वाले मूढ़ लोग शरीर धारी मुझ परमात्मा को साधारण जीव समझते हैं।'

ईश्वर-सम्बन्धी चर्चा सुनना उसे बहुत ही भला लगता था। महाभारत, रामायण और पुराणों को सुनना उसे अत्यन्त प्रिय था। जहाँ-जहाँ कीर्तनादि होते थे, गदाधर वहीं उपस्थित हो जाता था। धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति तो उसमें जन्मजात थी। एक बार जो कथा सुन लेता था वह उसे कण्ठस्थ हो जाती थी। इसीलिए, रामलीला, कृष्णलीला आदि का अभिनय वह जब इच्छा हो, कर सकता था।

और एक दिन जब वह अपने साथियों के साथ गौएँ चराने के लिए गया हुआ था तब अचानक उसके मन में पुनः वृन्दावन प्रकट हो गया। आनन्द से पुलकित गदाधर ने अपने साथियों को बुलाया। किसी को कैला सखी और किसी को वृन्दा बनाया और स्वयं श्री राधिका बन कर विदग्ध विरह-गान करने लगा। गाते-गाते गदाई 'कहाँ कृष्ण ? कहाँ कृष्ण ?', ऐसा चिल्लाते हुए रुदन करने लगा। गला रुँध गया और नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। एक सखी ने कहा, 'हरे कृष्ण ! हरे कृष्ण ! कृष्ण कृष्ण हरे हरे' यह महामंत्र श्रवण करते ही 'कहाँ कृष्ण ? कहाँ कृष्ण ?' कहते हुए विरहिन श्री राधिका इधर-उधर देखने लगी। और फिर कुछ क्षणों बाद, 'हाँ ! हाँ ! वही तो है कृष्ण मेरे प्रियतम, मेरे प्राण नाथ' ऐसा कहते हुए आवेश में गदाधर ने हाथ पसार कर कृष्ण को पकड़ लिया। श्रीकृष्ण नाम में चैतन्य गदाधर के लिए भावघन मूर्ति श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष हो गये थे।

और एक दिन अपने सहपाठियों को लेकर गदाधर ने रामलीला का अभिनय आरम्भ कर दिया। मिट्टी पत्थर का सिंहासन बनाया। स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम बने और धर्मदास लाहा के पुत्र गयाविष्णु को लक्ष्मण बनाया। अभिनय आरम्भ हुआ। अन्य सभी साथी बीच-बीच मे भूल जाते कि यह तो अभिनय है। उन्हें तो ऐसा लगता मानो वास्तव में ही श्रीराम उनके राजा हैं और वे सब उनकी प्रजा। राम को पाकर मानो उनका जीवन ही धन्य हो गया है। अभिनय हो चुका था कि मास्टर महाशय आ पहुँचे। विद्यार्थियों को सामने न देखकर उन्होंने आवाज लगायी, "कहाँ हो रे तुम सब ?' सभी विद्यार्थीगण इकट्ठे हो गये। पढ़ाई आरम्भ हुई किन्तु, गदाधर एक कोने में बैठा हुआ था। उसकी दृष्टि आकाश की निर्मल नीलिमा पर लगी हुई थी। उसकी आँखों के सामने कुछ और ही दृश्य था। हरे हरे लहलहाते खेत, एक डाल से दूसरी डाल पर एवं एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर उड़ान भरते हुए स्वच्छन्द पक्षी। उसका मन लाहा बाबुओं की पाठशाला, मास्टर महाशय, क्षुदिराम और चन्द्रामणि देवी सब ही से दूर निर्जन स्थान में जा पहुँचा, जहाँ पक्षियों का मधुर गान, नदियों की कलकल ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। मेघों की टुकड़ियाँ नीले गगन में चित्र आंक रही थीं और नदी पर लहरें ताल दे देकर नाच रही थीं। प्रकृति का सौन्दर्य देख मुग्ध गदाधर सोचने लगा, "भला इस प्रकृति के सौन्दर्य का रचयिता कितना सुन्दर होगा ? कितना महान एवं ऐश्वर्य शाली होगा ?" गदाधर की तन्मयता इतनी गहरी थी कि उसे तनिक भी बाह्य ज्ञान न था। मास्टर महाशय गदाधर को इस प्रकार तन्मय देख उसके समीप आये। उसके कंधों पर स्पर्श किया। मास्टर महाशय के स्नेहपूर्ण स्पर्श से गदाधर चौक उठा। उन्होंने कहा, "क्या आज पढ़ाई में मन नहीं लग रहा ?" गदाधर झेंप सा गया। पढ़ने के लिए बैठ तो गया परन्तु मन अभी भी पूर्वोक्त स्थान का आनन्द ले रहा था। वह समीम के पीछे असीम का दर्शन कर रहा था।

●

शिव ज्ञान से जीव सेवा

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
वाराणसी।

आज से लगभग ८६ वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने कहा था : "त्याग और सेवा भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं। राष्ट्र को इन्हीं दिशाओं में प्रगति करने दो। अन्य सारी बातें अपने आप ठीक हो जायेंगी।" यह प्रसन्नता का विषय है कि भारत के विषय में स्वामी जी के इस निर्देश को राष्ट्र ने, आंशिक रूप से ही सही, सुना है, जिसके परिणाम स्वरूप आज हम भारत में सर्वत्र सेवा-संस्थाओं की भरमार देखते हैं। सरकार ने सेवा को "राष्ट्रीय सेवा योजना" (N. S. S.) के रूप में विद्यालयीन शिक्षा का अंग बनाकर समुचित महत्व प्रदान किया है। लेकिन स्वामीजी किस प्रकार की सेवा चाहते थे, तथा कौन सी सेवा को उन्होंने राष्ट्रीय आदर्श की संज्ञा दी थी इसे भली-भाँति समझना परमावश्यक है।

व्यापक अर्थ वाले इस 'सेवा' शब्द का विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है। सामान्य बोल-चाल एवं वार्तालाप में सेवा शब्द का उपयोग व्यवसायों अथवा पेशों के लिए भी किया जाता है जैसे, स्वास्थ्य सेवाएँ, राष्ट्रीय सुरक्षा सेवा इत्यादि। व्यक्ति अपना परिचय देते समय कहता है कि वह अमुक सेवा में रत है। आधुनिक सामाजिक ढांचा इतना जटिल हो गया है कि कोई भी व्यक्ति सैकड़ों दूसरे व्यक्तियों के योगदान के बिना जीवित नहीं रह सकता। जूते, कपड़े, अन्न, व्यंजनादि हमारे दैनन्दिन उपयोग की वस्तुओं का निर्माण न जाने कितने लोगों के हाथों से होता है। इसी तरह हमारे द्वारा किया गया एक छोटा सा कार्य न जाने कितने लोगों के लिये उपयोगी होगा, यह हम सामान्यतः हृदयंगम नहीं कर पाते। अतः अपने पेशे या व्यवसाय को सेवा की संज्ञा देना युक्ति युक्त ही प्रतीत होता है। सरल शब्दों में दूसरों के लिए किया गया कोई भी कार्य सेवा कहलाता है, चाहे वह वैतनिक हो या अवैतनिक, चाहे उसका प्रतिदान प्राप्त हो अथवा नहीं। सेवा को इतने व्यापक अर्थों मे स्वीकार करते हुए भी वैतनिक पेशे को सेवा नहीं कहा जा सकता।

और फिर एक दूसरे प्रकार की भी सेवा है जिसे "फैशन" या शौक की संज्ञा दी जा सकती है। ५-१० लोग एकत्र एक सेवा संस्था का निर्माण करते हैं। कुछ धन संग्रह करते हैं, तथा गरीबों को औषधि एवं वस्त्रादि वितरित कर देते हैं। अधिकांश अवसरों पर इस सेवा कार्य का प्रचार समाचार पत्रों एवं फोटों के माध्यम से पर्याप्त मात्रा में किया जाता है। इन कार्यों में सेवा की भावना कम और नाम यश की इच्छा एवं अहंकार की शर्त अधिक होती है।

लेकिन सभी लोग इस हीन भावना से प्रेरित सेवा नहीं करते। कुछ ऐसे भी हैं जो हृदय की उदारता से आर्तों एवं पीड़ितों की सेवा में आत्म नियोग करते हैं। इसके पीछे उनका कोई स्वार्थ नहीं होता और न ही वे अपनी सेवा का कोई प्रतिदान अथवा उसकी प्रशंसा के इच्छुक ही होते हैं। 'सेवा के लिए सेवा' यह उच्च आदर्श बहुत कम लोगों का होता है और उससे भी कम लोग अन्त तक इस उच्च मनोभाव को बनाये रखने में समर्थ होते हैं।

उपर्युक्त निष्काम सेवा का एक उच्चतर रूप है —शिवज्ञान से जीवसेवा। इससे सेवा-कार्य को एक आध्यात्मिक दिशा एवं दृष्टि प्राप्त होती है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म," सब कुछ ब्रह्म ही है, सभी में परमात्मा

का वास है, भारतीय संस्कृति एवं धर्म के इस मूलभूत सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप है—आर्तों एवं पीड़ितों की भगवद्बुद्धि से सेवा करना। ऐसी सेवा, मात्र सेवा न होकर, एक भौतिक क्रिया मात्र न होकर, पूजा का रूप ग्रहण कर लेती है एवं व्यक्ति की आध्यात्मिक साधना का अंग बन जाती है।

अनादि काल से मोक्ष, ईश्वर दर्शन या आत्म-साक्षात्कार भारतीय संस्कृति का मूल लक्ष्य एवं भारतीय संस्कृति का चरम आदर्श रहा है। इस एक चरम पुरुषार्थ को केन्द्र कर भारतीय संस्कृति एवं जीवन का गठन हुआ है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के सभी क्रिया-कलापों को आध्यात्मिक दिशा प्रदान करने की विशेष क्षमता भारतीय मन ने सदियों के अभ्यास एवं प्रयोग द्वारा अर्जित की है। इसी की प्रेरणा से आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द ने सेवा जैसे महत्वपूर्ण एवं सभी लोगों से सम्बन्धित कार्य को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया है। यही नहीं, सेवा को श्रेष्ठतम पूजा, युगोपयोगी एवं अत्यन्त प्रभावशाली साधना में परिणत कर समग्र देश को एक नयी दिशा प्रदान की है।

एक बार परमहंस श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर में अपने कमरे में बैठे भक्तों से वैष्णव धर्म के विषय में वार्तालाप कर रहे थे। उन्होंने कहा कि वैष्णवों के मुख्य ३ सिद्धान्त होते हैं : १. भगवन्नाम में रुचि २. जीव पर दया और ३. वैष्णव पूजन। नाम और नामी अभेद होते हैं। इसलिए भगवान के नाम का पूरी श्रद्धा के साथ जप करना चाहिए। इतना कहकर श्रीरामकृष्ण जब "जीव पर दया" इस सिद्धान्त की व्याख्या में प्रवृत्त हुए तो वे समाधिस्थ हो गये। वे इतने शुद्धसत्त्व महापुरुष थे, उनका मन इतना पवित्र एवं संवेदनशील था कि किसी विषय पर एकाग्र करने पर, वह उस विषय के साथ एकाकार हो जाया करता था—इस अवस्था को ही समाधि की संज्ञा दी जाती है। समाधि से सामान्य बाह्य अवस्था को प्राप्त होने पर वे मानव को सम्बोधित होकर कहने लगे," छि: कीटानुकीट, मानव, तू जीव पर दया क्या करेगा ? दया नहीं, शिव ज्ञान से जीव सेवा"। दया अहंकार का द्योतक है, लेकिन सेवा में विनम्रता है समर्पण है। स्वामी विवेकानन्द उस भक्त-मंडली में बैठे थे। उन्होंने जब श्रीरामकृष्ण की यह बात सुनी तो मुग्ध हो गये। इन्हें एक सन्देश प्राप्त हुआ और उन्होंने निश्चय किया कि समय आने पर इसका सारे विश्व में प्रचार करेंगे। परवर्ती काल में इसी "शिव ज्ञान से जीव सेवा" के आधार पर स्वामी जी ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

सामान्यत: आध्यात्मिक साधना का प्रारंभ मूर्ति-पूजा अथवा अन्य किसी स्थूल प्रतीक की उपासना से होता है। भक्त अपने इष्ट की मूर्ति या चित्र में अपने अराध्य देव की जीवन्त सत्ता का आरोहण एवं आह्वान करता है। तथा उसके बाद उसकी पत्र, पुष्प, धूप, दीप, गन्धादि से पूजा करता है। धीरे-धीरे वह जड़ प्रतीक में अपने इष्ट देव की जीवन्त सत्ता का अधिकार अनुभव करने लगता है। अन्त में उसे अपने अराध्य देव के चैतन्य रुप के दर्शन होते हैं। तात्पर्य यह है कि मूर्ति अथवा चित्र जैसे जड़ पदार्थ को प्रतीक मानकर अन्त में परमात्मा तक पहुँचा जा सकता है। यदि यह सम्भव है, हो प्राणवन्त, जीवन्त, चेतना से—युक्त मानव को भगवान मानकर क्या उसकी पूजा द्वारा भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते ? यह सम्भव ही नहीं, बल्कि मूर्ति पूजा से श्रेष्ठतर पूजा है। मानव पाषाण की अपेक्षा, भगवान का श्रेष्ठतर प्रतीक है। प्रतीक ही नहीं, उसमें तो परमात्मा का अधिकतर अंश विद्यमान है ! उसमें पाषाण की अपेक्षा परमात्मा का प्रकाश कहीं अधिक है ! उसमें 'प्राण प्रतिष्ठा' अथवा देवता का आह्वान भी नहीं करना पड़ता।

सैद्धान्तिक दृष्टि से मानव की ईश्वर के प्रतीक के रूप में उपासना मूर्तिपूजा से श्रेष्ठतर होते हुए भी इस साधन प्रणाली की कुछ समस्याएँ हैं। मूर्ति को भगवान के रूप में देखने में अभ्यस्त भारतीय मन के लिए एक

कोढ़ी, रोगी, दरिद्र, अस्वच्छ भिखारी को भगवान के रूप में देखना आसान नहीं है। विष्णु, दुर्गा, राम, कृष्ण, काली आदि की मूर्ति देखकर हमारे मन में यह विचार नहीं आता कि यह पाषाण है बल्कि, अनायास ही हमारा मस्तक श्रद्धा-भक्ति से नत हो जाता है। लेकिन रोगी या दरिद्र मानव में परमात्मा का अधिक प्रकाश होते हुए भी हमें वह रोगी या दरिद्र ही दिखता है, भगवान् नहीं। भगवान की मूर्ति तो सदा एक ही भाव में बनी रहती है, उसके चेहरे की मुस्कान कभी मलिन नहीं होती। लेकिन जीवन्त जाग्रत रोगी भगवान कभी रुष्ट या उदास भी हो जाता है और तब मन कह उठता है, यह कैसा भगवान है जो रोता अथवा क्रोधित होता है। यही कारण है कि हम कुछ समय तक भले ही "रोगी नारायण", "दरिद्र नारायण" का भाव बनाये रख सकें, पर दीर्घ काल तक उसे बनाये रखना सम्भव नहीं होता। यह समस्या मूर्ति पूजा के साथ नहीं होती। इसीलिए रोगी एवं आर्त्त मानव श्रेष्ठतर प्रतीक होते हुए भी उसकी सेवा रूप पूजा इतनी प्रभावशाली अथवा फलदायक नहीं हो पाती जितनी मूर्ति पूजा होती है।

इस समस्या का एकमात्र समाधान है, बार-बार अपने मन को यह सुझाव देना कि जिस रोगी अथवा दरिद्र की मैं सेवा कर रहा हूँ, वह वस्तुतः नारायण है। हमें अपने आराध्य, सेव्य मानव के बाह्य प्रतीयमान रूप की उपेक्षा करना सीखना होगा। चाहे वह कितना ही कुत्सित क्यों न दिखाई दे; चाहे उसका चरित्र कितना ही भ्रष्ट क्यों न हो, चाहे उसका आचरण कितना ही अप्रिय क्यों न हो, हमें सब समय यह भाव बनाये रखने का प्रयत्न रखना चाहिए कि हमारा सेव्य साक्षात् नारायण है, तथा हम सेवा के रूप में उसकी पूजा ही कर रहे हैं। मन में पूर्व स्वभाव एवं अभ्यास के कारण हमारे समक्ष उपस्थित नारायण के बाह्य रूप को देखकर हमारे मन में घृणा या उपेक्षा का भाव उदित होगा, लेकिन हमें बार-बार नारायण बुद्धि बनाये रखने का, बार-बार भगवत बुद्धि जमाने का अभ्यास करते रहना होगा। मूर्ति पूजा में त्रुटि होने पर मूर्ति अप्रसन्नता प्रकट नहीं करती, न ही उसमें कोई प्रतिक्रिया दिखाई देती है। लेकिन रोगी नारायण की सेवा में त्रुटि होने पर वह कष्ट पा सकता है, एवं उसकी अप्रिय प्रतिक्रिया स्पष्ट दिखाई देती है। अतः इस प्रकार से शिव ज्ञान से जीव सेवा में सहिष्णुता, धैर्य एकाग्रता आदि अनेक गुणों की भी विशेष आवश्यकता होती है।

किन उपकरणों से शिव ज्ञान से जीव सेवा रूपी पूजा अनुष्ठित होती है? रोगी अथवा दरिद्र नारायण की सेवा में पत्रपुष्पादि मूर्ति पूजा के उपकरण काम में नहीं आते। अन्न, वस्त्र, औषधि पथ्य आदि इस पूजा के उपकरण हैं। रोगी-नारायण को पुष्प के स्थान पर औषधि अर्पित की जाती है; भोग के स्थान पर रोगी का पथ्य, चन्दन के बदले मरहम पट्टी तथा स्नान जल के बदले हल्के गरम पानी से शरीर पोंछा जाता है। उसका संस्कृत में "इहागच्छ, इहातिष्ठ, इहसन्निदेहु," इत्यादि मंत्रों द्वारा आह्वान नहीं किया जाता। इसके बदले, "भाई, क्या कष्ट है, बताओ, औषधि का नियमित सेवन करने से तुम अच्छे हो जाओगे; विश्राम करो," इत्यादि बातें कहनी होती हैं। ये ही इस अराधना के मंत्र हैं।

जिस प्रकार देवी देवताओं की पूजा प्रणालियाँ अलग-अलग होती हैं; राम की पूजा पद्धति एवं काली की पूजा पद्धति में भेद होता है, उसी प्रकार रोगी अथवा दरिद्र नारायण की पूजाओं में भी पार्थक्य होता है। टायफायड के रोगी की चिकित्सा रूप पूजा एवं पीलिया के रोगी की सेवा में पार्थक्य होता है। इस अन्तर को न जानने से अर्थ का अनर्थ हो सकता है। मूर्ति पूजा में करन्यास, अंगन्यास, भूत शुद्धि आदि प्रारम्भिक क्रियाएँ होती हैं। उसी प्रकार सेवारूप पूजा में भी सेवा की सामग्री एवं सेवक को कुछ प्रारम्भिक क्रियाओं द्वारा अपने को तैयार करना पड़ता है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण शल्योपचार है, जिसकी तुलना किसी भी उच्चकोटि की पूजा से की जा सकती है। इस पूजा में उच्चकोटि की क्रियापद्धति, प्रशिक्षण, विशुद्धि एवं अत्यधिक सतर्कता और एकाग्रता की आवश्यकता होती है।

रोगी-नारायण की पूजा के उदाहरण से समझायी गयी बातें अन्य प्रकार के आर्त, पीड़ित नारायणों की पूजा के विषय में भी लागू होती हैं। अज्ञ व्यक्ति को ज्ञान प्रदान करना, असहाय को सहायता, भूखे को अन्न एवं निराश्रय को आश्रय आदि प्रदान करना—ये सारे कार्य उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर पूजा में परिणत किये जा सकते हैं। जिस प्रकार मूर्ति-पूजा में प्रकृत पूजक एक ही होते हुए भी पूजा को सुगम्पक्ष करने में अनेक लोग योगदान करते हैं, उसी तरह रोगी अथवा दरिद्र नारायण की तात्कालिक पूजा एक व्यक्ति के द्वारा सम्पादित होते हुए भी उसमें अनेक व्यक्ति सहायक होते हैं। इन सभी सहयोगियों के कार्य भी पूजा के ही अंग हैं, तथा उतने ही गुरुत्व पूर्ण हैं जितनी पूजा स्वयं ?

उपर्युक्त सेवा रूप पूजा का प्रचार एवं प्रसार स्वामी विवेकानन्द की आधुनिक युग की एक महती देन है। इसे ही अन्य शब्दों में, "व्यावहारिक जीवन में वेदान्त" की संज्ञा दी जाती है एवं रामकृष्ण मिशन के विभिन्न केन्द्र इसी को कार्यरूप प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं। यदि आप रामकृष्ण मिशन के किसी केन्द्र में जाएँ, तो वहाँ आप संन्यासियों को आफिस में, अस्पताल के वार्ड में, गोशाला में, विद्यालय कक्ष में नाना कार्यों के माध्यम से नारायण सेवा करते देखेंगे।

यह स्पष्ट है कि शिव ज्ञान से जीव सेवा सभी के द्वारा संभव है। ऐसी बात नहीं है कि यह केवल संन्यासियों द्वारा ही सम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी परिस्थिति एवं परिवेश में इस सेवा को, इस विशिष्ट पूजा पद्धति को अपना कर धन्य हो सकता है।

*

जब टाटा ने स्वामी विवेकानन्द को लिखा

—डा० कृष्णकुमार गुप्त

बंगलौर स्थित भारतीय विज्ञान संस्थान, इंजीनियरी और विज्ञान-शिक्षण तथा शोध के क्षेत्र में भारत का प्राचीनतम और सर्वाधिक प्रतिष्ठित केन्द्र है। इस साल यह अपने गौरवशाली जीवन के ७५ वर्ष पूरे कर ७६ वें वर्ष में पदार्पण कर रहा है। देश के वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक विकास में इस संस्थान के महत्त्वपूर्ण योगदान का किसी ने विधिवत् मूल्यांकन नहीं किया है। अगर इस दिशा में कोई पहल करे, तो निश्चित रूप से चौंका देनेवाले अनेक तथ्यों पर से परदा हट सकेगा। आज भारत के एक सौ से अधिक विश्व-विद्यालयों, पाँच आइ. आइ. टी. (खड़गपुर, दिल्ली, मद्रास, बम्बई और कानपुर), भारत सरकार के विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग, परमाणु ऊर्जा विभाग, अंतरिक्ष विभाग, इलेक्ट्रॉनिकी विभाग, पर्यावरण विभाग, सागर विकास विभाग, नव ऊर्जा स्रोत विभाग, रक्षा अनुसंधान और विकास विभाग, कृषि अनुसंधान परिषद और स्वास्थ्य अनुसंधान परिषद् आदि के अंतर्गत कार्यरत अनेक शोध संस्थानों और केन्द्रों में शायद ही कोई ऐसी जगह हो, जहाँ भारतीय विज्ञान संस्थान का योगदान न रहा हो। देश के अनेक वरिष्ठतम विज्ञान वेत्ता इसी संस्थान की देन हैं। नोबेल पुरस्कार विजेता सर चंद्रशेखर वेंकटरमन इसके सबसे पहले भारतीय निदेशक थे। प्रसिद्ध उद्योग पति जमशेदजी नौशेरवानजी टाटा ने इसकी स्थापना के लिए ३० लाख रुपये का दान दिया। महाराजा मैसूर ने इसके भवन के लिए भूमि प्रदान की। लंदन की रॉयल सोसायटी में इसकी रूप रेखा तैयार की गयी और तत्कालीन भारत की अंग्रेजी सरकार ने इसकी स्थापना के लिए एक विशेष प्रस्ताव पारित

करने की घोषणा की। ये सब बातें अपनी जगह ठीक हैं। पूरी तरह दस्तावेजी हैं।

मगर, रोमांचकारी है इसकी स्थापना के पीछे छूटता हुआ, धुँधलाता हुआ वह अल्पज्ञात इतिहास, जिसमें छिपी पड़ी है, इस मिट्टी के सपूतों के स्वप्नों, संकल्पों और अथक संघर्षों की गौरवमय गाथा की गुंजन। आपा-धापी और उखाड़ पछाड़ के मौजूदा तेज-तर्रार दौर में कैसे कल्पना की जा सकती है कि पिछली सदी की अंतिम और इस सदी की प्रथम दशाब्दियों में, गुलामी और गरीबी की लगाम और शासकीय चाबुक की मार से सहमे समाज में भी कोई देशभक्त-दूरद्रष्टा विज्ञान और प्रौद्योगिक उत्थान के सहारे देश को आत्मनिर्भर बनाने का स्वप्न देख सकता है? आइए चलें, दो-चार कदम इन भूली-बिसरी पगडंडियों पर, जो मिटी नहीं हैं, मिट भी नहीं सकतीं। शायद कुछ ओझल हो गयी हैं, समय के सरकने के साथ।

स्वामी विवेकानन्द से मुलाकात

१८९३ की बात है। 'एस. एस. एंप्रेस ऑफ इंडिया-नामक समुद्री जहाज से जे. एन. टाटा भारत से अमरीका की यात्रा पर रवाना हुए। योकोहामा (जापान) पर एक साधु वेशधारी सुन्दर, सुघड़ आकर्षक भारतीय युवक ने जहाज में प्रवेश किया और वह टाटा के पास की खाली सीट पर आ कर बैठ गया। वह युवक स्वामी विवेकानन्द थे, जो 'पार्लियामेंट औफ रिलीजंस' में भाग लेने के लिए अमरीका जा रहे थे। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि उस समय तक स्वामी विवेकानन्द को विश्वख्याति प्राप्त नहीं हुई थी, मगर जमशेदजी टाटा एक उद्योगपति के रूप में देश में भली भाँति स्थापित हो चुके थे। इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि इस यात्रा के दौरान स्वामी विवेकानन्द ने टाटा से देश की औद्योगिक दुर्दशा पर चर्चा करते हुए, टाटा का ध्यान इस ओर दिलाया कि वे क्यों जापान से दिया-सलाई (माचिस) का आयात करते हैं, जबकि इसके उत्पादन के लिए भारत में ही व्यवस्था की जा सकती है? स्पष्ट है, इससे जो विदेशी पैसा बाहर जाता उस पर स्वामी विवेकानन्द ने अपनी चिंता प्रकट ठीक ज्ञात नहीं है, मगर अनुमान है कि इस दौर इन दोनों विशिष्ट यात्रियों ने भारत में वैज्ञानिक प्रौद्योगिक शिक्षा आदि की तत्कालीन स्थिति विचार विमर्श जरूर किया होगा।

बात आयी-गयी हो गयी। समय अपनी गति आगे बढ़ता रहा। इस बीच दो घटनाएँ घटित हुईं, उल्लेखनीय हैं। पहली तो यह कि स्वामी विवेकानन्द भाषणों और वक्तव्यों ने सारे अमरीका में धूम म दी। वे रातोंरात ख्याति की चोटी पर पहुँच गये उन्हें भगवान् बुद्ध के रूप में देखा और समझा ज लगा! उनके माध्यम से विश्व के क्षितिज पर एक भारत का उदय हुआ। दूसरी ओर २८ सितम्बर १८ के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' (बम्बई) में जमशेदजी टा की एक घोषणा प्रकाशित हुई, जिसमें उन्होंने भारत उच्च अध्ययन के लिए एक आधुनिक संस्थान स्थापि करने का अपना संकल्प जनसामान्य के सामने प्र किया। इसमें यह भी बताया गया कि इसके लिए तीस लाख रुपये तक खर्च करने को तैयार हैं। इ घोषणा ने भारत के शिक्षित समाज में तहलका-सा म दिया। इसके कई कारण थे। एक तो उस समय भार जैसे गरीब गुलाम देश में तीस लाख रुपये की रा खर्च कर सकने की बात कल्पना से परे लगती थी। फि यह घोषणा एक उद्योगपति द्वारा की गयी थी, वह बदले में किसी लाभ के प्रलोभन के बिना। इस अलावा यह वह समय था, जब विदेशी गोरे शासक दे में भारतीयों के लिए उच्च शिक्षा को सीमित करने एक कुत्सित योजना का कुचक्र रचने की तैया में थे।

टाटा ने यह घोषणा बहुत सोच-विचार कर ए सुस्पष्ट निर्णय लेने के बाद की थी, सो उन्होंने इस क्रियान्वयन के लिए कार्रवाई शुरू कर दी। टाटा का एक सुनिश्चित मत यह था कि भारत में विज्ञान और

उद्योग का विकास भारतीय चिंतन से अनुप्रेरित हो। इसी संदर्भ में २३ नवम्बर १८९८ को बम्बई से उन्होंने स्वामी विवेकानन्द को एक पत्र लिखा, जो यहाँ उद्धृत है :

प्रिय स्वामी विवेकानन्द,

मुझे विश्वास है कि जापान से शिकागो जाते समय मार्ग में आपसे जो मुलाकात हुई थी, उसे आप भूले नहीं होंगे। मेरे मन में उस समय कहे गये आपके शब्द रह-रह कर उठ रहे हैं। आपने कहा था कि भारत में यतित्व और कर्त्तव्य की भावना को नष्ट नहीं होने देना चाहिए। तब आपने इसे उपयोगी कार्यों में लगाये जाने की आवश्यकता पर भी बल दिया था।

मेरी योजना भारत में एक विज्ञान शोध संस्थान स्थापित करने की है। यकीन है, आपने इस विषय में कहीं न कहीं पढ़ या सुन लिया होगा। इसी संदर्भ में मैं आपके उन विचारों का यहाँ उल्लेख करना चाहूँगा। मैं तो समझता हूँ कि यतित्व की भावना का सर्वोत्तम उपयोग यही हो सकता है कि ऐसे विहारों अथवा आवास कक्षों का निर्माण किया जाये, जहाँ आत्मबल से युक्त व्यक्ति साधारण शिष्टाचार का जीवन बिताते हुए प्राकृतिक और मानव विज्ञानों के संवर्धन के लिए अपने आपको समर्पित कर सकें।

मेरा विचार है कि इस प्रकार के यतित्व के समर्थन में यदि किसी सक्षम नेता द्वारा आंदोलन छेड़ा जाये, तो इससे यति धर्म और विज्ञान का तो भला होगा ही, हमारे देश की प्रतिष्ठा की भी रक्षा हो सकेगी। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि इस प्रकार के आंदोलन के लिए विवेकानन्द से अधिक उपयुक्त नेता कोई और नहीं हो सकता।

आप का क्या विचार है? इस सम्बन्ध में भारत की प्राचीन परंपराओं से हमारे जीवन को स्फूर्ति प्रदान करने का जो मिशन हमारे सामने है, उसके लिए क्या आप अपने आप को विनियुक्त कर पायेंगे? संभवतः अच्छा यह होगा कि आप इस संदर्भ में अपने देशवासियों की जागृति के लिए सर्वप्रथम एक प्रेरणादायक पुस्तिका की रचना करें। इसके प्रकाशन का समस्त व्यय वहन करने में मुझे प्रसन्नता होगी।

सादर, मैं हूँ प्रिय स्वामी,
आपका—जे. एन. टाटा
२३ नवम्बर १८९८
एस्प्लेनेड हाउस, बम्बई।

जैसा कि स्वाभाविक था, अंग्रेजी सरकार ने टाटा की योजना को पसन्द नहीं किया। तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड कर्जन ने इसमें कई खामियाँ बताते हुए, इसे अव्यावहारिक बताया। १४ जनवरी १८९९ के 'बंगाली' नामक पत्र ने लॉर्ड कर्जन के वक्तव्य का विस्तृत विवरण प्रकाशित किया। लगभग इसी समय प्रो. रैमसे ने भी योजना का विरोध किया। टाटा ने स्वयं ही प्रो० रैमसे को इस योजना के मूल्यांकन का काम सौंपा था और उनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे भी सरकारी रवैये की हाँ-में-हाँ मिला बैठेंगे। ऐसा नहीं है कि इसमें सिर्फ भारतवसियों के दिलों को ही चोट पहुँची हो। अनेक ईमानदार अंग्रेज भी इस सरकारी रवैये से सहमत नहीं हो सके। इस वर्ग के व्यक्तियों में सिस्टर निवेदिता का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सिस्टर निवेदिता ने स्वयं अपनी ओर से शिक्षा विभाग के लॉर्ड वर्डवुड और टाटा के बीच एक भेंट का आयोजन कराया। लेकिन प्रो० वर्डवुड ने तब कहा था—"हम भारत पर शासन अपने हित की दृष्टि से करते हैं। हमें भारतीयों से क्या लेना-देना है?" सिस्टर निवेदिता को इस गर्वोक्ति से काफी दुःख पहुँचा, लेकिन उन्होंने अपने आपको हताश नहीं होने दिया। परन्तु, वे वायसराय लॉर्ड कर्जन के जिस एक कुत्सित कार्य को कभी नहीं भूल सकीं, वह था मैसूर सरकार द्वारा संस्थान के लिए पूर्वघोषित एक लाख रुपये की वार्षिक सहायता को राज्य के दीवान शेषाद्रि अय्यर की मृत्यु

के बाद दबाव के जरिये कम करा कर तीस हजार रुपये करा देना। ऐसे ही अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे।

शासक वर्ग शंकालु और ईर्ष्यालु था और शासित था संकल्पशील और आस्थावान। संघर्ष अपनी रफ्तार चलता रहा। टाटा थके नहीं, मगर उनका अन्त समय नजदीक आ गया १९ मार्च १९०४ को उनका देहावसान हो गया। स्वामी विवेकानन्द तो दो वर्ष पहले ही इस संसार से विदा हो चुके थे। जमशेदजी के दोनों पुत्रों दोराबजी टाटा और नवल टाटा ने अपने पिता की मृत्यु के बाद इस दिशा में प्रयास जारी रखा। जैसा प्रायः होता है, सरकार की ओर से मामले को टालने के लिए विशेषज्ञों की राय लेने जैसे हथकंडे अपनाये जाते रहे। इसमें भी पाँच वर्ष लगा दिये गये। १९०९ में जा कर मंजिल नजर आ सकी। यह मंजिल थी, बंगलौर में भारतीय विज्ञान संस्थान नाम की संस्था का उदय। दुर्भाग्य! जब काफिले ने लम्बे और कमरतोड़ सफर के बाद मंजिल पर पहला कदम रखा, तो उसका मुखिया जिसका सपना साकार होने जा रहा था, उनकी रहनुमाई करने के लिए वहाँ मौजूद नहीं था।

(धर्मयुग, १८ से २४ मार्च, १९८४ से साभार)

□

गतांक से आगे

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

श्री मन्मथ नाथ गांगुली

अनुवादक—श्री विवेकानन्द यादव

माया क्या है ?

साधु अमूल्य के सम्बंध में मुझे बताकर स्वामीजी ने मुझसे पूछा, "वह कौन सी चीज है जो तुम मुझसे जानना चाहते हो ? तुम मनचाहा प्रश्न कर सकते हो ?" मैं बोला, "मैंने माया पर दिये गये आपके व्याख्यान को पढ़ा है। यह मुझे बहुत अच्छा लगा। पर मैं इसे समझ नहीं सका हूँ। कृपया मुझे बतलाइए, माया क्या है ? कुछ क्षण तक वे मौन रहे, फिर बोले, "अगर तुमको इसके अलावा कुछ पूछना हो तो तुम मुझसे पूछ सकते हो ?" मैंने कहा "महाराज, मुझे और कुछ नहीं पूछना है। यदि आप जैसे ब्रह्मविदवरिष्ठ मुझे इस चीज को नहीं समझा सकते हैं तब शायद इस जीवन में यह चीज मेरे लिए एक बंद किताब जैसी रह जाएगी। यह सुन कर स्वामीजी माया पर बोलने लगे। वे तेजी से बोल रहे थे और मैं उनके तर्क तथा शब्दावली को समझ रहा था। धीरे-धीरे मेरा मन इंद्रियग्राह्य जगत् से ऊपर उठता गया। मैंने अपने चतुर्दिक सूक्ष्मजगत् की सत्ता का अनुभव किया जो स्थूल जगत से ज्यादा सूक्ष्म था। मैं अपनी खुली आँखों से मठ, पेड़-समूह हरेक वस्तु को कंपन करते हुए देख रहा था। यदि आप विशाल प्रज्वलित अग्निज्वाला के ऊपर अपनी दृष्टि डालते हैं तो आप एक कंपन-सा देखते हैं। ठीक उसी प्रकार सभी वस्तुएँ मेरी आँखों के आगे काँपती हुई, दोलन करती हुई दीख रही थीं। मैं अपनी असाधारण अनुभूति के प्रति सचेत था और अपने आप से पूछा, "यह सब मैं क्या देख रहा हूँ ?"

मैंने अपने आस-पास चारों ओर देखा सब ओर वही कंपन था। धीरे-धीरे, यहाँ तक कि स्वामीजी भी

मेरी आँखों के सामने से ओझल हो गये। तब भी मैं उनकी वाणी सुन रहा था, परन्तु मैं उसका अर्थ नहीं समझ पा रहा था। तब अचानक वही कंपन मैंने अपने मस्तिष्क में अनुभव किया और केवल शून्य सा लगा।

पुनः मुझे स्वामीजी दिखाई पड़ने लगे और उनकी वाणी सुनाई पड़ने लगी तथा फिर मैं इसका अर्थ भी समझने लगा। लेकिन मेरा मन मेरे 'अहम्बोध' के प्रति सचेत था, और वह उतना प्रयत्न नहीं कर रहा था जितना उसने पहले किया था, जैसा कि मैं सोचा करता था कि मैं माया का अर्थ जानता हूँ।

मैं, वह व्यक्ति जिसने कभी स्वामीजी के सामने पहले कभी बोलने की हिम्मत भी न की थी, आज स्वयं को माया सिंधु में एक बुलबुले की तरह समझ रहा था तथा स्वामीजी भी जिसमें दूसरे बुलबुले की तरह थे। हमारे बीच का भेद उस क्षण के लिए समाप्त हो चुका था। स्वामीजी का विशाल व्यक्तित्व, उनकी महान आध्यात्मिक शक्ति तथा आस-पास की प्रत्येक वस्तु उस मायासिंधु में एक विचित्र संयोग की तरह प्रतीत हो रही थी। लेकिन, यह कुछ नहीं बल्कि एक अखण्ड चित्र—सर्व-व्यापी चैतन्य था।

तब मैंने कहा, "स्वामीजी आप भी माया के भीतर हैं। आपके मठ के क्रिया-कलाप, बहुत से विद्यालय, दरिद्र नारायण सेवा, अनेक अस्पताल, मिशन—प्रत्येक वस्तु माया है। इन चीजों की क्या जरूरत है? आप स्वयं माया के जाल में आबद्ध हैं।

इन बातों को सुनकर वे मुस्कुराए और कुछ देर मौन बने रहे। उनकी कृपा के फलस्वरूप मैंने माया के साथ एकात्मता की अनुभूति प्राप्त की। मैं अब पुनः अपने छोटे से 'मैंपन' के घेरे में लौट आया। मैंने मठ, स्वामीजी तथा प्रत्येक वस्तु को फिर पहले ही जैसा देखा, जैसा कि इस अनुभूति के पूर्व देखता था।

कुछ समय पूर्व मैं उत्तेजक ढंग से ऊँची आवाज में बोला था और अब मैं अपने उस व्यवहार के लिए लज्जित था। अब स्वामीजी और मैं एक नहीं रह ग था। मैंने अपने और उनके बीच के विशाल भेद को फि से अनुभव किया।

स्वामीजी यह जानकर कि मैं सामान्य हो ग हूँ, "बोले, हाँ, तुमने ठीक ही कहा है। मैं माया के सा खेल खेल रहा हूँ। यदि तुम माया के इस खेल को पस नहीं करते तो हिमालय के किसी गहन, गंभीर गुफा जाकर स्वयं को तपस्या में निमज्जित कर सकते हो।

दोपहर के भोजन का समय हो चुका था; प्रत्ये व्यक्ति प्रतीक्षा कर रहे थे। स्वामीजी खड़े हो गये औ मैं उनके चरणों पर साष्टांग गिर पड़ा। वे शिवस्वरू थे; और मैंने उनका चरण स्पर्श किया। उस समय मे मन में इच्छा हुई कि मैं स्वामीजी के हाथों से प्रसा पाऊँ। परन्तु, मैं कुछ बोला नहीं। स्वामीजी भंडा गृह के सामने खुले बरामदे में टहल रहे थे। वे कम में जाकर एक सेव ले आये और एक ब्रह्मचारी को चा लाने के लिए बोले। धीरे-धीरे वे उसे छीलने लगे, फि उसके टुकड़े किए। उसके बाद मेरे पास आकर, ए टुकड़ा स्वयं लेकर शेष उन्होंने मुझे दे दिया। मैं अत्यं तृप्त हुआ। तब मेरे मन में स्वामीजी से 'अन्न-प्रसा ग्रहण करने की इच्छा जगी। कुछ समय बाद जब ह दोपहर के भोजन पर बैठे थे तो स्वामीजी ने एक ब्रह्म चारी को बुलाया और कहा "यह अन्न मन्मथ को आओ।" वह श्रीरामकृष्णदेव का भोग प्रसाद था।

दीक्षा की अनुमति :

जब दोपहर का भोजन खत्म हो गया तो सभी अपने-अपने विश्राम कक्ष में चले गए। स्वामीजी भी अपने कमरे में चले गये। उन्होंने थोड़ा आराम किय उस समय वे मठ की नियमावली बनाने में अत्यंत व्यस्त थे। किसी प्रकार उन्हें अपनी मृत्यु का पूर्व आभास हो चुका था। वे संघ के संन्यासियों के लिए भविष्य में मार्गदर्शन के उद्देश्य से मौलिक नियमों को लिपिबद्ध कर देना चाहते थे।

उस दिन मैं मठ में ठहर गया था और रात्रिवास भी वहीं किया था। अगली सुबह मैं स्वामीजी को प्रणाम निवेदन करने के लिए गया। वे अपने कमरे के दरवाजे के पास खड़े थे। मैंने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। उन्होंने कहा, "गंगा में जाकर स्नान कर आओ। उसके बाद मेरे पास आना।" उस समय उनका मुखमंडल दयायुक्त एवं कल्याण कामना से उद्दीप्त था और मैं तत्क्षण समझ गया कि वे मुझपर कृपा-वर्षण करने वाले हैं। मेरा हृदय जोरों से धड़क रहा था क्योंकि मैंने इसे दीक्षा देने की अनुमति जाना था। मैं तरुण अवस्था के बालक की तरह प्रसन्न था और गंगा स्नान के लिए सचमुच दौड़ पड़ा—इतना अधैर्य था मैं। जबतक स्वामीजी गुरुभावारूढ़ नहीं होते, जिसे वे लोग साक्षात् श्रीरामकृष्णदेव का भाव मानते थे, तब तक किसी को दीक्षा नहीं देते थे। जब मैं गंगा स्नान से वापस आया तो उन्हें शवासन की मुद्रा में सोफा पर लेटा पाया। उन्होंने अपना दाया हाथ ढीला छोड़कर मुझसे कहा, "मेरा हाथ पकड़ो।" मैं फर्श पर बैठ गया और उनकी कलाई पकड़ ली। वे कुछ कृशकाय हो गये थे तथापि उनकी कलाई इतनी चौड़ी थी कि मेरी मुट्ठी की पकड़ के बावजूद लगभग आधी ऊँगली का अन्तराल था। स्वामीजी ने आँखें बंद कर लीं और बिल्कुल निस्पंद हो गये। समय बीतता गया और मैं एक बच्चे की तरह उनकी कलाई पकड़े था। मुझे ऐसा लगा कि उनका व्यक्तित्व मुझे निमज्जित करता जा रहा है और मैं अपनी पृथक चेतना बनाये रखने की कोशिश कर रहा था। कुछ क्षण के लिए तो ऐसा लगा कि मेरी चेतना बिल्कुल लुप्त हो गयी है। तब वे उठ बैठे।

स्वामीजी सोफा पर से नीचे उतर आये और कमरे में खड़े हो गये। उन्होंने एक आसन को दिखाकर उस पर मुझे बैठने के लिए कहा। समीप ही एक दूसरा आसन था जिस पर वे स्वयं बैठ गये। जब मैंने उनकी ओर देखा तो उन्होंने कहा, "स्वप्न में तुमने 'माँ' को 'कुमारी' के रूप में देखा है। किन्तु, अबसे आगे तुम उन्हें षोडशी मूर्ति के रूप में ध्यान करना—ऐसा।" उन्होंने जैसे ही कहा कि मैंने स्पष्ट रूप से मूर्ति को देखा और उस क्षण मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ। स्वप्न में हुए दर्शन के बारे में मैंने किसी से भी कुछ नहीं कहा था, फिर भी वे जान गये और मुझे इसके लिए कोई आश्चर्य भी नहीं हुआ क्योंकि मैं इस बात को सत्य मानता था कि वे सर्वज्ञ हैं। कई वर्ष पूर्व स्वप्न में मैंने सात कुमारियों को देखा था। सबसे बड़ी ग्यारह साल की थी तथा सबसे छोटी केवल पाँच साल की। आयु और ऊँचाई के बीच का भेद क्रमशः घटते हुए क्रम में था और सभी अत्यंत सुन्दरी दिव्य मूर्तियाँ थीं। सभी सुंदर, महीन परिधान एवं आभूषण धारण किये हुए थीं; सभी के सिर पर सोने का मुकुट था। सभी के मुखमंडल पर देवीमूर्ति जैसी उज्ज्वलता थी। वे एक-एक करके एक ओर से निकलतीं, कुछ देर मेरे सामने चलतीं फिर कुछ दूर जाने पर अदृश्य हो जातीं। यह दर्शन इतना स्पष्ट और तीव्र था कि उसकी छाप मेरी स्मृति पर सदा के लिए अंकित हो गयी।

स्वामीजी कहते गये, "कुछ समय बाद स्वप्न में तुम्हें महादेव के दर्शन हुए। उनके हाथ में त्रिशूल था और उन्होंने तुम्हें यह मंत्र·····प्रदान किया। तब से तुम उस मंत्र का जाप करते आ रहे हो। किन्तु अब से तुम्हारा मंत्र यह है·····।" उन्होंने माँ के बीजमंत्र का तीन बार जोर से उच्चारण किया और मैंने अपने सामने शास्त्र में वर्णित जिह्वा बाहर निकाली हुई, पूर्ण आकार की देवी मूर्ति को देखा। मैंने पूछा, "क्या मुझे माँ का ध्यान इसी प्रकार करना होगा?" उन्होंने कहा, "अगर तुम चाहते हो तो जिह्वा भीतर की हुई माँ का ध्यान कर सकते हो।" और वे मुस्कुरा पड़े।

उसके बाद उन्होंने मुझे दीक्षा तथा साधना के संबंध में कुछ उपदेश दिया जिसका मुझे पालन करना था। उन्होंने मुझे गुरुपूजा का मंत्र बताया तथा ध्यान के लिए चक्रों को दिखलाया। उन्होंने कहा, 'सर्वप्रथम, मन ही मन गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त करो तब जितना

स्पष्ट रूप से हो सके गुरुमूर्ति की कल्पना करो। इसके लिए सहस्रार सर्वोत्तम स्थान है। इसके बाद इष्ट मंत्र का धीरे-धीरे जाप करना चाहिए और उनकी (माँ की) मूर्ति का ध्यान हृदय में करना चाहिए।"

"मानस पूजा में, सर्वप्रथम चरण कमल का ध्यान करना चाहिए, तब धीरे-धीरे ऊपर की ओर बढ़ना चाहिए जब-तक कि इष्ट का मुख नहीं आ जाय। फिर मुखमंडल का ध्यान करना चाहिए। जब ध्यान गहरा होगा तब हाथ या पाँव नहीं दीखेंगे। जब-तक तुम आकार देखते हो, तब-तक निर्विकल्प भूमि में नहीं जा सकते। पर जल्दबाजी मत करना। तुम्हें धीरे-धीरे बढ़ना चाहिए और प्रत्येक अवस्था को एक-एक कर पार करना चाहिए। अन्यथा तुम्हें अधिक समय ल सकता है।"

जब मेरी दीक्षा समाप्त हो गयी, तब उन्होंने कह "यहाँ मेरे समीप बैठो और ध्यान करो।" बिन नागा किये, प्रतिदिन साधना करो, चाहे तुम कितन भी व्यस्त क्यों न हो। यह थोड़ी देर के लिए भी अवश किया जाना चाहिए—जैसे कुछ मिनट भी। यदि तु किसी भी प्रकार समय नहीं पाते तो तुम इसे शौच के समय भी कर सकते हो, उससे भी हो जायगा।"

(क्रमशः

विवेक शिखा का
रामकृष्ण संघ शताब्दी अंक

भगवान् श्री रामकृष्ण ने आज से सौ वर्ष पूर्व सन् १८८६ ई. के अगस्त महीने में अपना लीला—संवरण किया था। आज से सौ वर्ष पूर्व ही रामकृष्ण संघ और रामकृष्ण मठ की भी स्थापना हुई थी। तीन-तीन पुण्य ऐतिहासिक घटनाओं की शतवार्षिकी के अवसर पर विवेक शिखा का आगामी अगस्त महीने का अंक "रामकृष्ण संघ शताब्दी अंक" के रूप में प्रकाशित होगा।

इस अंक में रामकृष्ण संघ के महाध्यक्ष, श्रीमत् स्वामी गंभीरानन्दजी महाराज, सहाध्यक्ष, श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज, स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज, स्वामी वन्दनानन्दजी महाराज स्वामी बुधानन्द, स्वामी लोकेश्वरानन्द, स्वामी हर्षानन्द, स्वामी ब्रह्मेशानन्द, स्वामी सोमेश्वरानन्द, स्वामी निखिलेश्वरानन्द आदि जैसे रामकृष्ण संघ के विशिष्ट एवं मनीषी साधुओं के चिन्तनपूर्ण, विचारोत्तेजक एवं प्रामाणिक लेख रहेंगे।

श्रीरामकृष्ण के भक्तों एवं जिज्ञासु पाठकों से अनुरोध है कि वे अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करा लें। इस विशेषांक का मूल्य होगा ६/-। रजिस्टर्ड डाक से मँगाने पर ८/ आठ रुपये। अग्रिम रुपये मनीआर्डर द्वारा भेजें।

लिखें :

संपादक, विवेक शिखा,
रामकृष्ण निलयम,
जयप्रकाशनगर
छपरा-८४१ ३०१
बिहार

गांक से आगे

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जीवन-कथा

—श्री चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय

अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द

रामकृष्ण मठ, नागपुर

६. शिक्षा

[कौन-कौन से गुण होने पर महापुरुषों का सेवक होने का सौभाग्य मिलता है, लाटू में कौन से गुण थे, लाटू शिक्षित थे अथवा नहीं, पाश्चात्य मतानुसार शिक्षा का मापदण्ड, पाश्चात्य शिक्षा की कमियाँ, भारतीय शिक्षा का वैशिष्ट्य, लौकिक पारलौकिक तथा पारमार्थिक शिक्षा के क्षेत्र और परिधि तथा उनके बीच पार्थक्य, ठाकुर की नवीन शिक्षा प्रणाली, शिक्षा और साधना का एकत्व, पठन-पाठनरूपी शिक्षा में लाटू की उत्सुकता, लाटू की अक्षमता, पारमार्थिक शिक्षा पाने में लाटू की भाषा में दक्षिणेश्वर की शिक्षा, ब्रह्म का नशा करने की शिक्षा, दिल को साफ करने की शिक्षा, सेवा की शिक्षा।]

सामान्यतया देखने में आता है कि शिक्षा, संग, पवित्रता और साधना इन चार चीजों का एकत्र संयोग लाभ हुए विना किसी महापुरुष का सेवक होने का सौभाग्य नहीं मिलता। किशोर लाटू के जीवन में हम संग, शुद्धि और साधना—इन तीन का तो संयोग देखते हैं, परन्तु उन्हें शिक्षा पाने का सौभाग्य नहीं हुआ था। भक्तपालक रामचन्द्र दत्त के घर में अवधूत नित्यगोपाल की सेवा के फलस्वरूप उन्हें साधुसंग मिला था। अवधूत की सेवा करते समय निरन्तर नाम संकीर्तन के द्वारा उनका चित्त शुद्ध हुआ था तथा उनकी साधना भी प्रारम्भ हुई थी। परन्तु अब तक उनकी पढ़ाई-लिखाई न हो सकी थी। इस कारण निरक्षर लाटू का महापुरुष संग पाना हमें विस्मय जनक प्रतीत होता है।

लाटू निरक्षर थे, उन्हें वर्णमाला का ज्ञान न था। परन्तु इसी आधार पर क्या लाटू को अशिक्षित कहा जा सकता है? इस प्रश्न की मीमांसा करने के पूर्व हमें शिक्षित और अशिक्षित की परिभाषा निश्चित करनी होगी और शिक्षा के उद्देश्य पर भी थोड़ी चर्चा करनी होगी।

पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को 'भाषा, लिपि और आचार-व्यवहार का ज्ञान कराना है, और उच्च शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को 'चिन्तनशील' बनाना है। उनके मतानुसार प्राथमिक शिक्षा सम्पन्न व्यक्ति 'पढ़ने-लिखने की क्षमता' रखेगा और उच्चशिक्षा प्राप्त व्यक्ति 'शिक्षण और शोध करने की क्षमता' से युक्त होगा। उनमें से कोई कोई शिक्षा का उद्देश्य बताते हुए कहते हैं—"It is to

teach them how to use their mind in thinking" और शिक्षित व्यक्ति के बारे में कहते है—"An educated man is one who can accomplish things" अन्तिम परिभाषा यद्यपि पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में स्वीकृत नहीं हुई है, पर सामान्यतया लोग यही अर्थ लगाते हैं।

पाश्चात्य दृष्टिकोण से विचार करने पर हम लाटू को शिक्षित नहीं कह सकते, क्योंकि उन्हें भाषा और लिपि का ज्ञान नहीं था। परन्तु शिक्षा के उच्चतर मापदण्ड से उन्हें अशिक्षित नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें तीव्र एवं शृंखलाबद्ध चिन्तन शक्ति थी। निरक्षर होकर भी उन्होंने जिस प्रकार अपने मनोजगत में परिवर्तन ला दिया था, शिक्षित होकर भी हममे से कितने लोग उस संस्कृति के अधिकारी हो सके हैं?

निःसन्देह हम पाश्चात्य आदर्श से अनुप्राणित विकृत शिक्षा पाकर दिन-दिन शिक्षा का उच्चतर लक्ष्य भूलते जा रहे हैं। क्योंकि उन्हीं के आदर्शानुसार अब हमलोग भी शिक्षा को जीवन का बहिरंग व्यापार मानने लगे हैं; यहाँ तक कि दर्शन आदि के अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में भी अब हम बहिरंग चर्चा से शिक्षा की समाप्ति करने लगे हैं। यह बात हम प्रायः भूल ही चुके हैं कि शिक्षा अन्तर की चीज है। क्योंकि आधुनिक शिक्षा प्रणाली में मनुष्य को अपने आन्तरिक जगत् में आवागमन की विद्या नहीं सिखायी जाती। जड़ और जागतिक वस्तुओं को आधार बनाकर आधुनिक शिक्षा प्रदान की जाती है। वास्तविक रूप से जो चेतन है, प्राणवन्त तथा अपार्थिव है उसके आधार पर शिक्षाप्राली का विकास न होने के कारण ही आज हमें यह दुर्दिन देखना पड़ रहा है। राष्ट्र को आदर्श मान लेने के कारण हमारी शिक्षा इतनी कृत्रिम और आडम्बर युक्त हो गयी है कि हमें उसमें प्राणस्पर्श नहीं मिलता, आन्तरिक अनुभूति नहीं होती। बल्कि हम अपने अन्तर की अनुभूति को राष्ट्रीय विचार एवं कार्यकुशलता के हाथ में बन्धक रखकर अपना महा अनिष्ट कर रहे हैं। हमें स्पष्ट बोध हो रहा है कि हमारी आन्तरिक अनुभूति धुँधली और क्षीण होती जा रही है। दया, सहानुभूति, स्नेह-श्रद्धा, भक्ति आदि हार्दिक वृत्तियों के दुर्बल हो जाने के कारण हमारा जीवन हल्का होता जा रहा है—पता नहीं हम और भी कितने हल्के होकर स्वार्थ का पलड़ा भारी करते जायेंगे! पाश्चात्य शिक्षा का यही तो दोष है कि यह हमें कितने ही तरह से पंगु किये जा रही है और इस बात को श्रीरामकृष्ण ने अपनी दिव्यदृष्टि से देख लिया था। इसीलिए उन्होंने यह दिखाने के लिए कि वास्तविक भारतीय शिक्षा का क्या उद्देश्य है तथा वास्तविक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति का कैसा जीवन होगा, उन्होंने कुछ तथाकथित शिक्षित, अल्पशिक्षित, अशिक्षित तथा भ्रान्तशिक्षित युवकों को अपनी शिक्षाप्रणाली में ढाला था। सेवक लाटू भी उन्हीं में से एक अशिक्षित युवक थे।

सेवक लाटू को शिक्षित करने के लिए उन्होंने जो नवीन पथ अपनाया था वही भारत का सनातन पथ है। उसी मार्ग पर चलकर सत्यकाम जाबालि का मोह-भंग तथा नारद को ब्रह्मदर्शन हुआ था। यह प्रणाली काफी समय से भारत में प्रचलित थी परन्तु काल की विनाशलीला के फलस्वरूप इसका प्रवाह अत्यन्त संकीर्ण हो गया था। इस शिक्षा में न तो पढ़ने-पढ़ाने पर ज्यादा जोर दिया गया है और न ही आचार-अनुष्ठान को अधिक महत्व मिला है। यह शिक्षा न तो मनुष्य को लौकिक भोगों की आशा में दौड़ना सिखाती है और न पारलौकिक सुखों की आशा में। यह तो उसके पारमार्थिक धर्म को लेकर चलती है।

अनेक लोगों की धारणा है कि पारलौकिक तथा पारमार्थिक एक ही चीज है पर वस्तुतः इनमें बड़ा भेद है। पारलौकिक शिक्षा दैवविज्ञान, मन्त्रविज्ञान, तन्त्र-विज्ञान तथा यज्ञ विज्ञान को लेकर चलती है, जबकि पारमार्थिक शिक्षा में तत्त्वविज्ञान का प्राधान्य है। पारलौकिक शिक्षा में धन-धान्य की आवश्यकता है, पारमार्थिक में नहीं। पारलौकिक कर्मयज्ञ में सकाम भोग

का बीज रह जाता है, परन्तु पारमार्थिक क्रियाकाण्ड में अनासक्ति एवं शरणागति के भाव की ही प्रबलता होती है। पारलौकिक विद्या मनुष्य को दैवी सम्पदा का अधिकारी बनाती है और पारमार्थिक विद्या उसे दिव्य देवता के रूप में परिणत करती है। लौकिक के समान ही पारलौकिक सम्पदा भी क्षयमान होती है परन्तु पारमार्थिक सम्पदा स्थायी है। पारमार्थिक शिक्षा का उद्देश्य 'पाना' नहीं, बरन् 'होना' है, अतः पारमार्थिक में थोड़ी सी भी चालाकी या चालबाजी नहीं चल सकती। उसमें मनुष्य की पूर्ण सत्ता को एक साथ ही शिक्षित एवं सुसंस्कृत किया जाता है, एक साथ ही अपने शरीर, मन, बुद्धि की पवित्रता एवं शोधन की व्यवस्था करनी पड़ती है।

लाटू को पारमार्थिक शिक्षा देने के लिए ठाकुर ने उन्हें अपने पास खींच लिया था। वे कहा करते थे—"छोटे पौधे को बाड़ लगाकर रखना पड़ता है, नहीं तो उसे गाय-बकरियाँ चर जाती हैं;" इसीलिए उन्होंने लाटू को सेवक के रूप में स्वीकार कर अपनी देख-रेख में रख लिया था।

एक दिन वे अपने अन्तरंग भक्तों को कहने लगे—'अजी! यहाँ तो इतने बड़े-बड़े शिक्षित लोग आया करते हैं। इनका संग पाकर भी क्या इस छोकरे की कुछ लिखाई-पढ़ाई न होगी? तुमलोग थोड़ा प्रयास करके देखो न!" फिर एक भक्त से बोले—"देखो, तुम इसके लिए एक 'प्रथम भाग' लेते आना।"

वे भक्त अपने अगले दिन ही 'प्रथम भाग' लेकर दक्षिणेश्वर आ गये। परमहंसदेव लाटू को पढ़ाने बैठे। वर्ण परिचय पुस्तक को खोलकर उन्होंने लाटू से कहा—"बोलो 'अ'।" लाटू ने कहा—"अ"।" "आ"; लाटू ने कहा—"आ"। इसी प्रकार उस दिन लाटू का स्वर-परिचय हो गया। अगले दो दिन लाटू ने इसी पाठ का अभ्यास कर लिया। तीसरे दिन व्यंजन वर्णों की पढ़ाई शुरू हुई। ठाकुर ने कहा—"बोल 'क'।" लाटू ने उच्चारण किया—"का"। ठाकुर जितना ही कहते, "अरे वह 'क' है।" लाटू उतनी ही बार 'का' कहते।

निकट स्थित रामलाल आदि सेवकों की ओर उन्मुख ठाकुर कहने लगे—"मूर्ख 'क' को 'क' नहीं बोल पाता केवल 'का' 'का' कहे जा रहा है। अरे, इसी को यदि 'का' कहेगा तो 'क' में आकार लगाने पर क्या कहेगा।" बिहारी अभ्यास के कारण 'क' की ध्वनि का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं हो पा रहा था; अतः उन्हें बारम्बार असफल होते देखकर ठाकुर ने कहा—"जा, अब तुझे पढ़ने की आवश्यकता नहीं।"

ठाकुर के समान शिक्षक पाकर भी लाटू का लिखना पढ़ना न हो सका। शिक्षक में जितने भी गुणों की आवश्यकता है, यथा धैर्य, अक्रोध, विषय का ज्ञान, लोगों के चरित्र का ज्ञान आदि, परमहंसदेव में ये सब गुण तो थे ही, इनके अतिरिक्त उनमें हृदय का महान् गुण—प्रेम भी सदा-सर्वदा विद्यमान रहता था। ऐसे अनुरागी ठाकुर ने भी लाटू को शिक्षा देते समय ऐसी बात कही। और छात्र के रूप में लाटू भी बिल्कुल मन्द बुद्धि, जड़ हों, ऐसी बात नहीं। क्योंकि जिन गुणों के होने पर शिक्षा निर्विघ्न सम्पन्न होती है, उनमें से किसी का भी लाटू में अभाव न था। लाटू विनयी, श्रद्धावान, सरल तथा मेहनती थे और अलौकिक मेधासम्पन्न न होने पर भी मन्दमति न थे। तो भी यह विस्मय की ही बात है कि ऐसे महान शिक्षक से शिक्षा पाकर भी ऐसे छात्र को वर्णज्ञान तक नहीं हुआ। जिन ठाकुर ने सैकड़ों बुद्धिमान विद्वानों को हजारों तरह से शिक्षित किया था उनमें निरक्षर लाटू को वर्णपरिचय कराने की क्षमता न हो—यह बात हमारी समझ में नहीं आती। हमें तो अपनी क्षुद्र बुद्धि से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने स्वयं ही एक महान् दृष्टान्त स्थापित करने के लिए लाटू को इसी प्रकार से गढ़ना चाहा था।

वे जानते थे कि भारतवर्ष के अधिकांश ग्रामीण लोग निरक्षर होकर भी सरल एवं विश्वासी हैं। जो लोग विश्वासी हैं, पर जिनके लिए शास्त्र अथवा धर्मग्रन्थ का अध्ययन कर ज्ञान लाभ करना सम्भव नहीं तथापि वे अपनी पवित्रता, सरलता एवं हृदयवत्ता के कारण ज्ञानप्राप्ति के योग्य हैं, ऐसे लोगों की शिक्षा प्रणाली का निरूपण करने के लिए ही ठाकुर ने लाटू को निमित्त बनाया है। निरक्षर लाटू भावुक, चरित्रवान, उद्योगी और आलस्यहीन थे; महागुरु परमहंसदेव ने हमें दिखा दिया कि ऐसे छात्र को किस प्रकार शिक्षा दी जानी चाहिए। उन्होंने मानो हमारी आँख में अँगुली डालकर दिखा दिया कि ऐसे छात्र को पठन-पाठन के घिसे पिटे रास्ते पर चलाना उचित नहीं, क्योंकि उसमें न केवल समय का अपव्यय होता है, अपितु शिक्षा में सफलता भी नहीं मिलती।

—(क्रमशः)

*

बोध कथाएँ

समर्पण

प्रस्तुति : सुश्री मंजु गौतम
छपरा।

युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ। कौरवों और पांडवों के सुखद मिलन का वैसा दिन, जो फिर कभी नहीं आया। दुर्योधन उपहार स्वीकार कर रहे थे, कृपाचार्य रत्न-राशि संभाल रहे थे, दुःशासन अतिथियों के भोजन के प्रबंधक थे, संजय स्वागताधिकारी के रूप में व्यस्त थे। राजकोष के मालिक बने थे कर्ण। विदुर आय-व्यय लिख रहे थे। सहदेव युधिष्ठिर के निजी सहायक बने थे। आचार्य द्रोण और भीष्म अनुभवी वृद्ध की तरह हर कदम पर सलाह—मश्विरा देने में व्यस्त थे। सारे आर्यावर्त के राजा युधिष्ठिर के भव्य सुसज्जित प्रासाद में सिंह की तरह विचरण कर रहे थे। युधिष्ठिर ने अपना सर्वस्व दान कर दिया था और कृष्ण सारे पांडवों की नम्रता और शील अपने में समेटे ब्राह्मणों के पैर धुलाने और जूठी पत्तल बटोरने में व्यस्त थे।

तभी ऋषियों की टोलियों का आना शुरू हुआ। एक टोली में आगे-आगे नारद थे। हठात् नारद के मस्तिष्क में आया—इतने बड़े साधक और सम्राट आये हैं, पर मैं ऐसे व्यक्ति को खोजूँ जिसके चरणों पर मेरा मस्तक स्वयं झुक जाय—बरबस। और वे-घूम-घूमकर "सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति" की खोज करने लगे।

उच्च से उच्च सिद्ध-साधकों एवं देदीप्यमान सूर्य की तरह भास्वर सम्राटों की तरफ भी उनका सिर नहीं अवनत हुआ। सोच रहे थे—आना व्यर्थ हुआ। तभी, यज्ञ की समाप्ति की घोषणा युधिष्ठिर ने की। भीष्म ने कहा—युधिष्ठिर, यज्ञ में उपस्थित लोगों में जो "सर्वश्रेष्ठ" पुरुष हों, उनके चरण-स्पर्श करो, अर्घ्यदान दो। युधिष्ठिर ने कहा—महाराज, कौन है वह सर्वश्रेष्ठ पुरुष? भीष्म बोले—युग की प्रत्येक क्रीड़ा, प्रत्येक कर्म और प्रत्येक सिद्धि कृष्ण के पास है। उनकी पूजा करो।

अर्घ्यदान की सारी वस्तुएँ आयीं। उधर पत्तलों के अम्बार में डूबे कृष्ण, सारी दूसरी क्रियाओं से बेखबर चुपचाप अपने कार्य में लगे थे। जब उनकी बुलाहट

की बात चली, नारद उधर ही बढ़ गये। उनको देखते ही कृष्ण के कहा—नारद, भयंकर सिर दर्द है। कोई दवा लाओ। और यह दवा है—किसी भक्त के चरणों की धूलि। जितनी जल्दी हो सके, लाओ।

नारद प्रसन्नता पूर्वक चले कि अपनी योग्यता दिखाने का, सेवा दिखाने का, एक अवसर मिला। तुरत मन में आया—क्यों न अपने ही पैरों की धूल दे दूँ। फिर काँप गये—"राम-राम! कैसा कुविचार! मेरे चरणों की धूल! कितना पाप होगा!" प्रह्लाद के पास गये। प्रह्लादे रोने लगे—मुझसे यह पाप नहीं होगा। ध्रुव ने शिरो वेदना की बात सुनी तो रोने लगे पर पुण्य-क्षय होने के भय से कुछ बोले नहीं। हनुमान ने भी इनकार कर दिया। निराश—भगवान के पास पहुँच कर बोले—"भगवान सारी दुनिया में किसी ने चरण—धूलि नहीं दी।" "तो तुम अपनी ही चरण-धूलि क्यों न देते हो, मैं मरा जा रहा हूँ"—कृष्ण ने कहा। पर नारद ने कहा—"महाराज, जिन्दगी भर की साध क्षण-भर में स्वाहाकर दूँ? जिन चरणों की पूजा करता था, उनको ही दूषित करूँ? दूसरा उपाय बतावें। यह असंभव है।"

कृष्ण ने कहा—"जल्दी गोपियों के पास जाओ। मेरी वेदना बताना। देखो, शायद मिले····।"

नारद दौड़े-दौड़े गोपियों के पास पहुँचे। कृष्ण की वेदना की बात सुनते ही गोपियों में चरण-धूलि देने की होड़ लग गयी थी। चरण-धूलि का पूरा गट्ठर बाँध नारद परेशान हो गये। मन ही मन कुढ़ते भी रहे, कहाँ से कहाँ मैंने चरण-धूलि ला देने की जिम्मेवारी ले ली—कितना पाप है इस काम में!

चरण-धूलि की गठरी देखते ही कृष्ण मुस्कुरा उठे। नारद ने कहा—'आप हँस रहे हैं, मेरी परेशानी तो समझिए'। कृष्ण ने कहा—"नारद, सबसे बड़ा भक्त, सिद्ध, श्रेष्ठ व्यक्ति कौन है?" नारद ने कहा—"शायद गोपियाँ।" कृष्ण ने कहा—"नारद, निस्संदेह गोपियाँ। क्योंकि, उन्होंने अपना पाप-पुण्य यश—अपयश, गति—अगति—सर्वस्व मुझे अर्पित कर दिया है। और लोगों को तो अपने पुण्य से मोह है, पाप का भय है। समर्पण—भाव कहाँ है?"

नारद की आँखें खुल गयी थीं। रोम-रोम बरबस कृष्ण के पैरों की तरफ झुक रहे थे। क्योंकि, कृष्ण ने पत्तल बटोरने का कार्य कर अपना सारा पाप-पुण्य, गति-अगति यश-अपयश मानवता के चरणों में समर्पित कर दिया था।

"मैं तो सच्चा 'महात्मा' उसे ही कहूँगा, जिसका कि हृदय गरीब के लिए बिलखता हो।····· जब तक कि इस देश के लाखों मनुष्य भूख और अज्ञान की दशा में ही जीवन-यापन कर रहे हों, मैं ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को देशद्रोही करार देता हूँ जो कि इनकी ही कौड़ी के बल पर शिक्षित और समृद्ध बनकर उनके प्रति जरा भी ध्यान नहीं दे रहा है।" —स्वामी विवेकानन्द

छागल-मन

—स्वामी शिवसेवानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम
पटना।

भिखारी जब भीख मांगने निकलता है तो अपना पात्र पूरा खाली कर लेता है। खाली पात्र देखकर ही लोग कुछ उसमें डाल देते हैं—दयाकर। तो दया का पात्र बनने के लिए, करुणा की आकांक्षा करने के लिए, पात्र का खाली होना अनिवार्य है, परम आवश्यक है। परन्तु हम प्रभु के द्वार पर भी जाते हैं तो भर कर—माया से—मोह से। पात्र है पूरा भरा—देने वाले को यदि दया आये भी, यदि करुणा हो भी, तो वह डाले कहाँ? फिर कचरा रहने पर कौन उस पर अच्छी वस्तु डालता है!

फिर हम कहते हैं—हम तो खाली पात्र चाहते हैं, यह दुष्ट मन ही अड़ंगा डाल देता है। तो भाई, यदि मन ही बाधा है—तो मन तो आपका ही है न! यह चंचल है। तो फिर उपाय भी तो है,—तत्व ज्ञान की छड़ी से कर दें इसकी पिटाई, जिससे यह फिर मोह की ओर, माया की ओर तथा वासना की ओर आँख ही न उठाए। कैसे? सुनिए—

एक था राजा। उसके पास एक छागल—बकरा—था। राजा ने ईनाम की घोषणा की। कहा कि जो भी चाहे मेरा बकरा सुबह ले जाए। खिलाए-पिलाए इतना कि संध्या को जब मेरे पास वापस आए—तो घास की तरफ भागे नहीं। जीतने वाले को आधा राज्य, और हारने वाले को मृत्यु-दंड।

बहुत लोग बकरा ले जाते—दिन भर बकरे को खिलाते—इतना कि उससे हिला भी न जाए। फिर संध्या को बकरा ले जाते—राजा के पास। राजा बकरा देखते ही उसके सामने हरी घास दिखाता—और बकरा फिर घास खाने दौड़ पड़ता। राजा कहता—लो, देखो, इसका पेट भरा नहीं। फिर घास की ओर दौड़ रहा है। तुम हार गये। अब लो मृत्यु-दंड। तो कोई भी बकरे का पेट न भर पाया। फिर—

एक दिन एक संत राजा के दरबार में आये और बोले—राजा, मैं बकरे का पेट भर दूँगा। संध्या को लौटने पर यह घास की ओर देखेगा भी नहीं। यह कह कर वे बकरे को ले गये।

कुटिया पर लौट कर संत ने बकरे को एक खूँटे से बांध दिया। और एक हाथ में हरी घास ली, दूसरे में बेंत। फिर घास को बकरे को दिखाया। बकरे ने आनंद से भर कर घास की ओर जैसे ही मुँह बढ़ाया, संत ने जोर से उसको बेंत मारी। बकरा डर गया। थोड़ी-थोड़ी देर बाद संत बकरे को घास दिखावें, और जैसे ही बकरा घास की ओर मुँह बढ़ाए—फिर बेंत। यह क्रिया चलती रही। दोपहर तक बकरे की ऐसी गति हुई कि वह घास देखकर मुँह घुमा ले, उधर देखे ही नहीं। संध्या तक बकरा घास का नाम सुनकर ही भागे। फिर संत उसको राजा के पास ले गये—राजा ने तत्काल बकरे को हरी घास दिखायी। घास देखते ही बकरे ने अपना मुँह उल्टा घुमा दिया।

राजा आश्चर्यचकित! बोले—संत, आपने अद्भुत चमत्कार किया। यह हुआ कैसे? संत बोले—राजन्! पिटाई। मन भी तो एक छागल है, बकरा है। क्या इतने भोग करके भी कभी हुआ है यह शांत? भोग की—वासना की—माया की घास खाते ऊबता नहीं। तो उपाय तो है—तत्व ज्ञान की छड़ी से इसकी पिटाई, जो फिर उधर देखे नहीं।

Give up jealousy and conceit. Learn to work unitedly for others. This is the great need of our country.

—Swami Vivekananda

With Best Compliments From :

HINDUSTAN MOTORS LIMITED

MANUFACTURERS OF :

Contessa and Ambassador Cars, Hindustan Driveaway Chassis

Hindustan Normal Control & Full Forward Control Trucks

Passenger Coach, Mini Bus, Trekker and Porter

Excavators, Electric Overhead Travelling Cranes Upto 400 Tonnes Capacity, Dumpers, Front End Loaders, Crawler Tractors, Scrapers

★

Registered Office at

9/1 R. N. MUKHERJEE ROAD, CALCUTTA-700 001

Factories at

HINDMOTOR (West Bengal) TRIVELLORE (Tamil Nadu)